भारत में प्राक्-इतिहास की निरंतरता

दामोदर धर्मानंद कोसम्बी

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

प्राक्-इतिहासकार का मूल दायित्व यह होता है कि वह विलुप्त समाजों का अधिकाधिक संधान करे। चूँकि अपनी परिभाषा के मुताबिक प्राक्-इतिहासकार लिखित दस्तावेज़ों के बजाय एक अलग तरह की सामग्री का उपयोग करता है इसलिए कई बार वह उन नि:शेष या जीवित लोगों के बारे में सादृश्य गढ़ने लगता है जिनका अपना कोई लिखित इतिहास नहीं होता। दुनिया में भारत के अलावा ऐसे सादृश्य शायद ही कहीं इतनी आसानी से उपलब्ध होते हों। इसकी एक वजह तो शायद यह है कि प्राचीन भारत की लिखित सामग्री को भी इतिहास नहीं माना जा सकता। मुसलिम काल (बारहवीं सदी के प्रारम्भ) से पहले किसी भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व का काल-निर्धारण पक्के तौर पर नहीं किया जा सकता। ऐसे में सामान्य विवरणों की तो बात ही अलग है क्योंकि उनमें तथ्यों और आम समझ का भी

घोर अभाव दिखता है। सीधे मुद्दे की बात करें तो समकालीन भारत में ऐसे अनेक आदिवासी समुदाय मौजूद हैं जिनके रीति-रिवाज़ प्राक-साक्षर काल से चले आ रहे हैं। भारत की 44 करोड़ जनसंख्या में आदिवासी समुदायों की संख्या तीन करोड़ यानी लगभग छह फ़ीसदी बैठती है। एक तरह से देखा जाए तो इन समुदायों को भारत के प्राक्-इतिहास के अनेक लक्षणों का जीवाश्म रूप माना जा सकता है।

आख़िर ऐसा कैसे सम्भव है कि भारत जैसे देश में जहाँ शहर और सभ्यता के चिह्न ईसा पूर्व की तीसरी सहस्राब्दी से ही मिलने लगते हैं, वहाँ आदिवासी समुदायों का जीवन लगभग प्रागैतिहासिक काल से एक ही ढर्रे पर चलता रहे। दरअसल, इस प्रश्न का उत्तर भोजन की उपलब्धता से जुड़ा है। समकालीन भारत में खाद्यान्न की कमी एक जानी-पहचानी बात है लेकिन यह समस्या हाल फिलहाल की देन है और मुख्यत: छोटी जोत के किसानों और शहरों के ग़रीब तबक़े तक सीमित है। भारत के अधिकांश भू-भाग में प्रकृति इतनी उदार रही है कि लोग-बाग हज़ारों वर्षों से आखेट और आहार संग्रह के बल पर जीवन निर्वाह करते रहे हैं। जीवन का यह ढर्रा उन इलाक़ों में आज भी बदस्तूर जारी है जहाँ खेती के अति-दोहन तथा जंगलों की अँधाधुंध कटाई से ज़मीन की उपजाऊ परत को नष्ट नहीं कर दिया गया है। यहाँ केवल मछली और शिकार ही नहीं बल्कि अन्य प्राकृतिक उत्पादों की भी इतनी बहुतायत है कि पौष्टिक भोजन के सभी आवश्यक तत्त्व उन्हीं से मिल जाते हैं। यहाँ फल, मूँगफलियाँ, बेर, सब्जियाँ, शकरकंद जैसे कंद-मूल, मशरूम, शहद जैसी सौ से ज़्यादा खाद्य वस्तुएँ एक ही ऋतु में उपलब्ध हो जाती हैं। ज़मीन में क़ुदरतन पैदा होने वाली और किसानों द्वारा बोई जाने वाली ऐसी तमाम खाद्य वस्तुओं का दो ऋतुओं के बीच भण्डारण भी किया जा सकता है। इस श्रेणी में तिल, गेहूँ, चावल, कई तरह की फलियों तथा ज्वार और बाजरे को शमिल किया जा सकता है। वस्तुत: गौतम बुद्ध के काल (छठी तथा पाँचवी सदी ईसा पूर्व) में बाजरे की एक क़िस्म— *पैनिकम फ्रूमेंटैककम* प्राकृतिक ढंग से पैदा होती थी और उसे केवल बीन लिया जाता था।

सब्ज़ियों की बहुतायत के साथ पशुपालकों व भेड़-बकरी पालने वाले गड़ेरियों को दूध और अन्य डेरी उत्पाद इतनी सहजता से उपलब्ध रहते थे कि भरण-पोषण करने के लिए उन्हें शिकार करने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती थी। भारत की जलवायु कुछ ऐसी उपकारी है कि यहाँ लोग जीव-हत्या के बिना आसानी से गुज़र-बसर कर सकते हैं। यह एक ऐसा आधारभूत सत्य है जिससे न केवल आदिवासी जीवन की निरंतरता को व्याख्यायित किया जा सकता है बल्कि भारतीय सामाजिक चिंतन के उत्स को भी आलोकित किया जा सकता है। बौद्ध और जैन जैसे मूल भारतीय धर्मों में जीव-हत्या को पाप माना गया है। ज़ाहिर है कि अगर प्रागैतिहासिक काल में यहाँ आहार-संग्रह पर टिकी यह अर्थव्यवस्था मौजूद न होती जिसमें लोगों को जीव-हत्या करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती थी, तो भारत में जीव-हत्या को पाप मानने की नैतिकता का विचार ही नहीं पनपता।

भारत में हल से खेती करने वाला लौहयुगीन समाज शुरू में गंगा के मैदानी क्षेत्र तक ही सीमित था। बाद में लोगों ने इस समृद्ध क्षेत्र से दक्षिण की ओर बढ़ते हुए प्रायद्वीपीय भारत के वनाच्छादित पठारी क्षेत्र- दक्कन की ओर कूच किया। पर यह आक्रमण उस तरह हिंसक नहीं था। लौहयुगीन रोम ने गॉल आदिवासियों तथा राइन के पार स्थित जंगलों में शांति क़ायम करने के लिए ताक़त का इस्तेमाल किया था जबकि उत्तर से आने वाले हलधर किसानों की जंगलवासी पशुपालकों तथा दक्षिण के खाद्य संग्रहकर्ताओं से यह मुठभेड़ सांस्कृतिक आदान प्रदान की एक पारस्परिक प्रक्रिया ज़्यादा प्रतीत होती है। इससे खाद्य संग्रहकर्ताओं को तो यह ज्ञान हुआ कि खेती कैसे की जाए जबकि किसानों को यह पता चला कि भोजन को पौष्टिक बनाने के लिए खाद्य संग्रह की विधियों के साथ प्राकृतिक रूप से उगने वाले खाद्यान्न

को नियमित खेती के अंतर्गत कैसे लाया जाता है। एक तरह से देखा जाए तो संग्रहकर्ता और उत्पादक के इस सामंजस्य से ही भारत के अतीत का ताना-बाना रचा गया है। यह तत्त्व आज के सामाजिक संगठन, जाति के उद्‌भव और जाति-व्यवस्था में भली-भाँति देखा जा सकता है।[1]

भारत के अनेक क्षेत्रों में स्थानीय आदिवासी समुदायों और खेतिहर जातियों के नाम एक जैसे पाये जाते हैं जबकि उनके बीच अंतर्विवाही तथा अन्य प्रकार के संबंध नहीं होते। सम्भवत: नामों की यह समानता उस मूल एकता की ओर संकेत करती है जब प्रवासी किसान और खाद्य संग्रह करने वाले आदिवासी समुदाय इन वन क्षेत्रों में पहली बार एक दूसरे के सम्पर्क में आये थे। जाति-व्यवस्था के दो मुख्य लक्षण— सजातीय समूहों के बाहर वैवाहिक संबंधों का निषेध तथा अपरिचित व्यक्ति के हाथ से भोजन ग्रहण करने की मनाही— खाद्य संग्रह करने वाले आदिवासी समाजों की ख़ास वर्जनाएँ मानी जाती हैं। ऐसे क्षेत्रों में जाति-व्यवस्था का विकास एक परवर्ती घटना है जिसे खाद्य-संग्रह करने वाले मूल वासियों द्वारा खुद को प्रवासी किसानों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास माना जा सकता है।

आधुनिक दृष्टि को हिंदू या आदिवासी धर्म के कर्मकाण्ड भले ही अजीबोग़रीब लगें परंतु कर्मकाण्ड को महज अंधविश्वास कहकर खारिज़ कर देना (या चालू फ़ैशन की तर्ज पर उसे मनोविश्लेषण की पदावली में व्याख्यायित कर देना) भारत के इतिहास और प्राक्-इतिहास की गवेषणा के एक बढ़िया अवसर को खो देना है।

अगर यह सच है तो फिर सवाल उठता है कि आज किसान जातियाँ आदिवासियों से ऊँची क्यों मानी जाती है। इस सवाल का जवाब ढूँढना मुश्किल नहीं है। पहली बात, शुरुआत में किसानों के सामने चाहे जैसी बाधाएँ रही हों लेकिन खेती के कारण उनका आर्थिक आधार आदिवासियों के मुक़ाबले ज़्यादा पुख़्ता था। और अन्य जगहों की तरह भारत में भी सामाजिक पद/हैसियत आर्थिक पैमाने से निर्धारित होती है। दूसरे, यह भी सम्भव है कि बेहतर भोजन की उपलब्धता के कारण किसानों की जन्म दर शुरू से ही ऊँची रही हो और इसी संख्या बल के कारण उन्होंने आदिवासियों पर वर्चस्व क़ायम कर लिया हो।

हालाँकि आज किसानों और आदिवासी समुदायों के बीच अनेक जातिगत असमानताएँ पैठ कर चुकी हैं लेकिन ख़ास तौर पर धर्म के दायरे में उनके बीच पारस्परिक आदान-प्रदान के प्रचुर साक्ष्य अभी भी देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण देवकुल के अनेक हिंदू देवताओं की जन्मपत्री आदिवासी परम्पराओं और पंथों में ढूंढी जा सकती है। यही बात आदिवासी समूहों पर भी लागू होती है। मसलन, जीविकोपार्जन के लिए जब कोई आदिवासी समूह अपनी मौलिक जीवन-शैली छोड़कर खेती करने लगता है तो वह अपने प्राचीन देवताओं का त्याग करके हिंदुओं के धार्मिक रीति-रिवाज़ों को अपना लेता है। आधुनिक दृष्टि को हिंदू या आदिवासी धर्म के कर्मकाण्ड भले ही अजीबोग़रीब लगे परंतु कर्मकाण्ड को महज अंधविश्वास कहकर ख़ारिज कर देना (या चालू फ़ैशन की तर्ज़ पर उसे मनोविश्लेषण की पदावली में व्याख्यायित कर देना) भारत के इतिहास और प्राक्-इतिहास की गवेषणा के एक बढ़िया अवसर को खो देना है।

मेरा अपना फ़ील्डवर्क दक्कनी पठार तथा प्रायद्वीपीय भारत के समवर्ती पश्चिमी तट के कुछ हिस्सों तक सीमित रहा है। इस क्षेत्र की स्थानीय बोलियों और प्रथाओं से परिचित होने के कारण मुझे आदिवासी और ग्रामीण जीवन के विस्तृत ब्योरों की पड़ताल करने में आसानी हुई है। मैंने सबसे पहले जिस आदिवासी समुदाय का अध्ययन किया था उसका नाम रास फसे पारधी था। महाराष्ट्र में रहने वाला यह समुदाय

मूलतः गुजरात से आकर उत्तर में बसा था। वह आज भी एक गुजराती बोली का इस्तेमाल करता है। पारधी एक घुमंतू समुदाय है जो अपने कृशकाय पशुओं को साथ लेकर चलता है। समुदाय के पुरुष दिहाड़ी पर काम करते हैं और चिड़ियों व छोटे मोटे जानवरों को जाल में फँसाकर उनका शिकार करने में माहिर होते हैं। परंतु आज पारधियों की जीविका मुख्यतः भिक्षा और चोरी से चलती है जिसमें पुरुष और स्त्री दोनों ही भाग लेते हैं। पारधी केवल अपने समुदाय में चोरी करने को ही अपराध मानते हैं।

पारधियों के धार्मिक कर्मकाण्ड को बाहरी और उनके मूल तत्त्वों का मिश्रण कहा जा सकता है। वे मुख्यतः चाँदी की आधुनिक ढंग से बनायी गयी पट्टी पर उकेरी गयी एक हिंदू देवी पूजा करते हैं। किंतु उनका प्रमुख कर्मकाण्ड प्रजनन नृत्य– पूरी तरह प्राचीन कर्मकाण्ड होने का संकेत देता है। यह नृत्य समुदाय के पुरुष मुखिया द्वारा किया जाता है जिसमें वह स्त्री का वेश धारण करता है। इसमें वह केवल पुरोहित की ही भूमिका नहीं निभाता बल्कि स्वयं देवी बन जाता है।

हिंदुओं के शुरुआती पवित्र ग्रंथों में अग्नि परीक्षा का उल्लेख नहीं मिलता। अग्नि पर चलकर ख़ुद को निर्दोष सिद्ध करने का यह रिवाज़ हिंदू कर्मकाण्डों में ईस्वी सन् के बाद शामिल हुआ। इस रिवाज़ का सहारा तभी लिया जाता था जब अपराध के सुबूत पुख़्ता होते थे।

प्रजनन कर्मकाण्ड अंशतः हिंदू और मूल निवासियों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक दिलचस्प उदाहरण है। प्रजनन नृत्य के दौरान मुखिया एक क्षण के लिए अपना हाथ उबलते हुए तेल में डाल देता है पर इससे नर्तक को कोई हानि नहीं होती। अग्नि परीक्षा का यह रूप स्पष्टतः पारधियों का एक प्राचीन रिवाज़ है। पारधियों की परम्परा के अनुसार किसी अनैतिक कृत्य के आरोपी व्यक्ति को अपनी बेगुनाही साबित करने के लिए हाथ में लोहे की गर्म छड़ लेकर कुछ निश्चित क़दम चलने के लिए कहा जाता है। हिंदुओं में इस तरह की अग्निपरीक्षा में जलते कोयले पर चलने का रिवाज़ है लेकिन ब्राह्मण ग्रंथ ऐसे कृत्य का विरोध करते हैं। हिंदुओं के शुरुआती पवित्र ग्रंथों में अग्निपरीक्षा का उल्लेख नहीं मिलता। अग्नि पर चलकर खुद को निर्दोष सिद्ध करने का यह रिवाज़ हिंदू कर्मकाण्डों में ईस्वी सन् के बाद की परिघटना है। इस रिवाज़ का सहारा तभी लिया जाता था जब अपराध के सुबूत पुख़्ता होते थे। ऐसे में यह अनुमान ग़लत नहीं लगता कि अग्निपरीक्षा का यह कर्मकाण्ड भारत के प्राचीन मूलवासियों से निकला होगा, जो अब पारधियों की नृत्य-परीक्षा में घुलमिल गया है।

दक्कन के एक अन्य आदिम समूह— धनगरों को, आदिवासी समुदाय के बजाय जाति कहना ज़्यादा ठीक होगा। धनगरों में कुछ लोग खेती-बाड़ी करते हैं और बाक़ी लोग ऊनी कम्बल बनाने का काम करते हैं। धनगरों का एक परिवार— होलकर अट्ठारहवीं सदी के शुरुआती दौर में ही सेना में शामिल हो गया था जिसने बाद में इंदौर के राजसी परिवार की हैसियत पाई थी। धनगरों के एक समूह के लोग आज भी आदिवासी जीवन शैली पर चल रहे हैं और अपने पशुओं के साथ घुमंतू जीवन व्यतीत करते हैं। घुमंतू धनगरों के इन समूहों में कई दस्ते होते हैं। प्रत्येक दस्ते में लगभग बारह सदस्य होते हैं। ऐसे एक दस्ते के पास औसतन तीन सौ भेड़ें होती हैं जिन्हें लेकर वे साल के आठ महीने यहाँ से वहाँ यात्रा करते रहते हैं। इस अवधि में एक दस्ता कम से कम दो सौ मील का सफ़र कर लेता है। कभी कभी तो वह चार सौ मील तक निकल जाता है।

दस्ते की महिलाएँ सड़क के रास्ते चलती हैं और पहले से तय स्थानों पर डेरा डालकर खाना बनाती हैं। दस्ते के पुरुष सदस्य भेड़ों को

दिन के समय जगह-जगह चराने के बाद रात के समय किसी किसान के खेत में हाँक ले जाते हैं। भेड़ों की मिंगण (मल) खेत के लिए बेहतरीन उर्वरक का काम करती हैं जिसके बदले किसान इस दस्ते को नक़दी या कोई अन्य चीज़ भेंट करता है। किसानों से मिलने वाली ऐसी नक़दी या चीज़ें, ऊन की छोटी मोटी बिक्री, भेड़ की खाल या कभी कभार उसकी बिक्री ही धनगर चरवाहों की जीविका का स्रोत होती है।

वर्षा ऋतु के चार महीनों के समय धनगर चरवाहे खेतों और चरागाहों से लौटकर अपने पारम्परिक मैदानी ठिकानों पर आ जाते हैं। यहाँ की सूखी जमीन उनकी भेड़ों को दलदली जगहों से लगने वाली हूफ़ रॉट जैसी बीमारियों से महफ़ूज़ रखती है। भेड़ों के लिए बाड़े का काम करने वाले वर्षा ऋतु के ये ठिकाने चूना पत्थर से बने होते हैं। जिन्हें देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका निर्माण प्रागैतिहासिक काल में हुआ होगा। मुझे पत्थरों से बने इन प्रागैतिहासिक औज़ारों के सबसे विशाल निक्षेप धनगरों के वर्षा ऋतु वाले ठिकानों के आसपास की जगहों से ही प्राप्त हुए हैं। यह बात चट्टानों पर उत्कीर्ण उन चित्रों पर भी लागू होती हैं जिन्हें मोटा-मोटी प्रागैतिहासिक माना जा सकता है। पत्थर के इन छोटे, सूक्ष्म और धारदार औज़ारों को माइक्रोलिथिक कहा जाता है। यह एक विचित्र बात है कि धनगर माइक्रोलिथिक को औज़ार की तरह नहीं देखते जबकि वे स्वयं ऐसे औज़ारों का निर्माण और प्रयोग करते हैं। बकरे को बधिया करने के लिए धनगर पत्थर का एक गोल टुकड़ा लेकर उसे दो अन्य पत्थरों के बीच रखकर छोटे छोटे हिस्सों में तोड़ लेते हैं। फिर इन छोटे टुकड़ों में से किसी धारदार टुकड़े को चाकू की तरह इस्तेमाल करते हुए बकरे के अंडकोषों को काट डालते हैं। पत्थर के इस चाकू को इस्तेमाल करने के बाद उसे बकरे के अंडकोषों के साथ विधिपूर्वक उबालकर फेंक दिया जाता है।

यहाँ हम दक्कन के मराठी क्षेत्र की एक पुरातन परम्परा— पंढरपुर की तीर्थयात्रा के बारे में यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसका उद्गम संभवत: उस कालावधि में हुआ था जब लोग आज के धनगर गड़रियों की भाँति घूमंतु जीवन व्यतीत करते थे। यह क़यास इसलिए भी सही लगता है क्योंकि पंढरपुर की तीर्थयात्रा का खेतिहर जीवन-शैली से मेल नहीं बैठता। पंढरपुर की यह यात्रा तीन से चार महीनों में सम्पन्न होती है और लोग इसके लिए वर्षा ऋतु के आरंभ पर निकलते हैं। जबकि वर्षा के इन महीनों में ही किसान खेती का ज़्यादातर काम निपटाते हैं, ऐसे में यह अकल्पनीय लगता है कि इस तीर्थयात्रा का उदय किसी खेतिहर समाज में हुआ होगा।

पंढरपुर की तीर्थयात्रा के बारे में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका उद्गम सम्भवत: उस कालावधि में हुआ था जब लोग आज के धनगर गड़रियों की भांति घूमंतु जीवन व्यतीत करते थे। यह क़यास इसलिए भी सही लगता है क्योंकि पंढरपुर की तीर्थयात्रा का खेतिहर जीवन-शैली से मेल नहीं बैठता।

प्रायद्वीपीय भारत में पुरातन और नयी जीवन-शैलियों का ऐसा अतार्किक मिश्रण काफ़ी आमफ़हम है। खेती के मामले में मेरे सामने एक ऐसा उदाहरण भी है जिसे परवर्ती काल की हल आधारित खेती और पेड़ों को काटकर तथा वनस्पति को जलाकर खेत तैयार करने की अत्यंत प्राचीन विधि का मिश्रण कहा जा सकता है। महाराष्ट्र में किसान ज्वार-बाजरे की फ़सल के लिए पहाड़ी ढलानों की सफ़ाई आज भी इसी विधि से करते हैं और आदिम समुदायों की तरह बेंत से मिट्टी खोदकर बीज बोते हैं। जबकि समतल घाटी के क्षेत्रों में यही किसान गेहूँ और चावल की बुवाई के लिए आधुनिक हल और खाद का इस्तेमाल करते हैं।

मेरी नज़र में निशेष या अश्मीभूत कर्मकाण्ड का सबसे विलक्षण उदाहरण बागड़

है। भारत में आज कानून और जनमत दोनों ही दृष्टि से यह प्रथा निषिद्ध घोषित की जा चुकी है। परंतु बागड़ से संबद्ध ऐसे स्थल दक्कन के अनेक मंदिरों में आज भी देखे जा सकते हैं। ऐतिहासिक विवरणों से पता चलता है कि इस कर्मकाण्ड के लिए जिस व्यक्ति का चयन किया जाता था उसके नितंबों के एकदम ऊपरी हिस्से में धातु के दो पैने हुक खोंप दिये जाते थे। इसके बाद चयनित व्यक्ति बैलगाड़ी से लगे दो स्तम्भों के बीच छलाँग भरता था। यह क्रूर और रक्तिम संस्कार वर्ष के एक विशेष दिन पर आयोजित किया जाता था। विदेशी पर्यवेक्षकों को इस प्रथा के पीछे कोई औचित्य दिखाई नहीं देता था लिहाज़ा उन्हें यह सिर्फ़ लोगों की एक बर्बर हरकत लगती थी। विदेशी यात्रियों को लोगों ने कभी यह नहीं बताया कि शरीर में गड़े इन हुकों के सहारे पींग भरना एक विशिष्ट सम्मान था जिसका अधिकार हर ज़िले में सबसे पुराने खेतिहर परिवार को ही दिया जाता था।

इस समारोह के दौरान याजक परम उत्साह की मुद्रा में था और उसके चेहरे पर पीड़ा का कोई निशान नहीं देखा जा सकता था। उसके घावों पर राख के अलावा कोई दूसरी औषधि नहीं मली जाती थी परंतु दो हफ़्ते बाद उसकी पीठ पर घाव के निशान बमुश्किल ही दिखाई देते थे।

बागड़ की यह प्रथा दूरदराज के कुछ गाँवों में आज भी प्रचलित है। कुछ अर्सा पहले मैंने स्वयं एक ऐसा समारोह देखा था। मैं यहाँ गाँव का नाम और इस कर्मकाण्ड में भाग लेने वाले लोगों के नाम तो नहीं बताऊँगा लेकिन इतना ज़रूर बता सकता हूँ कि इस समारोह का आयोजन अप्रैल की पूर्णमासी पर हुआ था। इस तथ्य को देखते हुए भी कि गाँव का मुखिया, वहाँ के प्रमुख परिवार तथा सभी समृद्ध किसान ब नामक कुल से नाता रखते हैं फिर भी गाँव में बागड़ के लिए व्यक्ति का चुनाव अ कुल के शादीशुदा नौजवानों के बीच से ही किया जाता है। अ कुल को मिले इस विशेषाधिकार की वजह यह है कि इस क्षेत्र में अ कुल के लोग ही सबसे पहले आकर बसे थे और भगवान म्हातोबा का आह्वान भी सबसे पहले उन्हीं को सुनाई दिया था। यह कर्मकाण्ड म्हातोबा के सम्मान में आयोजित किया जाता है।

गाँव में ऐसे दो स्थल हैं जहाँ चयनित व्यक्ति की पीठ में हुक खोंपने का काम किया जाता है। इसके लिए एक बैलगाड़ी का प्रयोग किया जाता है जिसका साल में केवल इसी दिन के लिए इस्तेमाल किया जाता है। आजकल बागड़ की इस प्रथा में समारोह की पूरी अवधि के दौरान संबंधित व्यक्ति के लिए हुकों पर टँगे रहना ज़रूरी नहीं होता। ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर की ओर पींग भरने के अलावा व्यक्ति को एक आड़े शहतीर से लटकते दण्ड पर कमोबेश आराम से बैठने का मौक़ा दिया जाता है। समारोह के लिए गाँव से चालीस दूर स्थित एक जंगल से हर साल एक नया शहतीर काट कर लाया जाता है। इसके पीछे किंवदंती यह है कि अ कुल के लोग इसी जंगल से गाँव में आकर बसे थे। शहतीर को जंगल से गाँव तक लाने के लिए गाँव के कुछ ही लोगों को चुना जाता है। रास्ते के दौरान गाँव वाले शहतीर को बारी बारी से उठाकर चलते हैं। रास्ते में सुस्ताने के लिए शहतीर को ख़ास जगहों पर ही रखा जा सकता है।

बागड़ के इस कर्मकाण्ड का आरम्भ कुछ इस तरह होता है : सम्मान पाने के आकांक्षी प्रत्याशी और उनके चयनकर्ता गाँव से बाहर स्थित एक ख़ास पेड़ के नीचे जाकर इकट्ठा होते हैं। योग्य व्यक्ति का चयन हो जाने के बाद चयनकर्ता व अन्य प्रत्याशी तीन तीन लोगों का गुट बनाकर एक पवित्र मार्ग से गाँव वापस लौट आते हैं। तीन सदस्यों के इस समूह में बीच का सदस्य अ कुल से होता है और उसके आगे–

पीछे ब कुल के सदस्य चलते हैं। चयनित व्यक्ति और उसके दो साथी पवित्र मार्ग पर सबसे बाद में दौड़ते हैं। इसके बाद चयनित व्यक्ति को स्थानीय मंदिर में ले जाया जाता है। जहाँ उसे विधिपूर्वक स्नान कराया जाता है। इसके बाद उसे देवा घोषित करके उसके सिर पर लाल पगड़ी बाँध दी जाती है और उसे लाल सिल्क का पायजामा पहनाया जाता है। चयनित व्यक्ति कमर से ऊपर नग्न रहता है।

इसके बाद यह याजक गाँव में जलाई गयी होली की राख पर जाकर खड़ा हो जाता है। उसकी पीठ में स्टील के हुक गाँव के बढ़ई द्वारा यहीं खोंपे जाते हैं। इस घटना को देखने के लिए पूरे गाँव के लोग मौजूद रहते हैं। इसके बाद याजक को फूलों के हार से लादकर पास के खेत में ले जाया जाता है जहाँ बैलों द्वारा खींची जाने वाली बागड़ गाड़ी तैयार खड़ी रहती है। याजक की पीठ में खुपे प्रत्येक हुक से एक एक रस्सी बँधी होती है जिससे उसकी पीठ के पीछे एक फंदा सा बन जाता है। इस फंदे को शहतीर से बाँधकर रखा जाता है जो खुद बागड़ के दो स्तम्भों पर टिका होता है। याजक पिछले समारोह से लेकर इस दौरान जन्मे हर बच्चे को आर्शिवाद देता है। हुकों के सहारे पहली पींग इसी के बाद भरी जाती है। और शाबासी के नारों के बीच यह ईश्वर नियुक्त याजक बहुत फुर्ती के साथ एक विश्राम दण्ड पर चढ़ जाता है। इसके बाद गाड़ी खेतों के बीच चल निकलती है।

यह गाड़ी मार्ग के निर्धारित स्थानों पर ही रुकती है। निर्धारित स्थान पर पहुँचते ही याजक फिर दण्ड से उतरकर निश्चित संख्या में पींग भरता है। इस प्रकार गाँव के सारे खेतों को अपने म्हात्म्य से कृतार्थ करता हुआ और पड़ोसी गाँवों के खेतों से गुज़रते हुए याजक भगवान म्हातोबा के मंदिर पर पहुंच जाता है। मंदिर पर मीलों दूर से चलकर आये लोगों का जमघट रहता है। इसके बाद बकरियों की बलि दी जाती है जिसका क्रम गाँववासियों के कुलों की हैसियत से तय होता है।

बलि का कार्यक्रम सम्पन्न होने के बाद हुक की रस्सियों को बागड़ के दण्ड से समेट लिया जाता है और याजक दंड से नीचे उतर आता है। मंदिर में प्रवेश करने के बाद उसकी पीठ से हुक निकाल लिए जाते हैं और उसके घावों पर म्हातोबा की पवित्र अग्नि की राख मली जाती है। इस क्रिया के बाद ईश्वर नियुक्त याजक पुनः मनुष्य की हैसियत में लौट आता है। इस समारोह के दौरान याजक परम उत्साह की मुद्रा में था। उसके चेहरे पर पीड़ा का एक भी निशान मौजूद नहीं था। उसके घावों पर राख के अलावा कोई दूसरी औषधि नहीं मली जाती थी परंतु दो हफ़्ते बाद उसकी पीठ पर घाव के निशान बमुश्किल ही दिखाई देते थे।

मुख्य दुर्ग लोहागाड को अभेद्य बनाने के लिए ये शासक दुर्ग की नींव में किसी युवा दम्पति को जिंदा गड़वाते थे। इसी तरह चाकन दुर्ग के मुसलिम शासकों में भी कुँआरे व्यक्ति की बलि देने का चलन था। उसके सम्मान में यह प्रथा आज भी जारी है। नर-बलि का शिकार होने वाले ऐसे सभी लोग अपनी मृत्यु का वरण अनिच्छा से ही नहीं करते थे।

गाँव की इस परम्परा के बारे में जब मैंने और पड़ताल करनी चाही तो मुझे बताया गया कि बागड़ की इस रस्म का स्वरूप पहले काफ़ी अलग था। लोगों ने बताया कि पुराने जमाने में तो शोभा-यात्रा के बाद हर वर्ष अ तथा निचली जाति स से चुने जाने वाले ईश्वर-नियुक्त याजकों के सिर काट कर उन्हें म्हातोबा के मंदिर के सामने पड़े शिलापट पर रख दिया जाता था तथा उनके ऊपर से म्हातोबा की पालकी को गुज़ारा जाता था। मुझे बताया गया कि यह प्रथा बहुत समय तक अपने इसी मूल रूप में चलती रही लेकिन फिर स कुल में केवल एक व्यक्ति बचा रह गया। कहा जाता है कि इसके बाद भगवान म्हातोबा स्वयं प्रकट हुए और उन्होंने घोषणा की कि आगे

से याजक की बलि न दी जाए। म्हातोबा ने कहा कि पवित्र दिन पर स कुल के चयनित व्यक्ति द्वारा अपनी जंघा को विधिपूर्वक कटवाने और अ कुल के प्रतिनिधि द्वारा हुक से पींग भरना पर्याप्त रहेगा। लोगों ने बताया कि मंदिर में जंघा कटवाने की यह रस्म हर वर्ष निभाई जाती है। स कुल के प्रतिनिधि की जंघा को ठीक उस समय काटा जाता है जब अ कुल का प्रतिनिधि अपनी बागड़ गाड़ी से उतर कर नीचे आता है। बागड़ के याजक के घावों की तरह स कुल के प्रतिनिधि की जंघा पर भी म्हातोबा की पवित्र राख मली जाती है।

कर्मकाण्ड और परम्परा के इस विकट घालमेल में प्राक्–ऐतिहासिक तत्त्व कौन से हैं? अट्ठारहवीं सदी के आठवें दशक तक पूना के ब्राह्मण शासकों में ऐसी ही एक प्रथा प्रचलित थी। अपने मुख्य दुर्ग लोहागाड को अभेद्य बनाने के लिए ये शासक दुर्ग की नींव में युवा दम्पति को ज़िंदा गड़वाते थे। इसी तरह चाकन दुर्ग के मुसलिम शासकों में भी कुँआरे व्यक्ति की बलि देने का चलन था। उसके सम्मान में यह प्रथा आज भी जारी है। नर–बलि का शिकार होने वाले ऐसे सभी लोग अपनी मृत्यु का वरण अनिच्छा से ही नहीं करते थे। इसका साक्ष्य कुरकुम्भ की नाईं जाति से प्राप्त होता है जिसे इस बात का गर्व है कि फिरंगई देवी की पूजा का सबसे पहला अवसर उसी को दिया जाता है। कुरकुम्भ के नाईंयों को प्राप्त परम्परागत प्राथमिकता के पीछे यह किंवदंती है कि जब देवी को दो सौ मील दूर से कुरकुम्भ लाया गया था तो नाईं जाति के ही एक सदस्य ने उसके रक्षक की भूमिका निभाई थी। कहा जाता है कि देवी ने कुरकुम्भ चलने से पहले यह शर्त रखी थी कि उसका रक्षक जिस भी स्थान पर पीछे मुड़कर देख लेगा देवी उसी स्थान पर ठहर जाएगी। रक्षक अपने वचन का पक्का रहा और उसने कुरकुम्भ पहुँचने तक पीछे मुड़कर नहीं देखा। नियत स्थान पर पहुँचने की खुशी में रक्षक ने स्वयं देवी के सम्मान में अपना शीश चढ़ाने की घोषणा कर दी।

अगर म्हातोबा के मूल और रक्तपात से भरे कर्मकाण्ड को प्रामाणिक मान लिया जाय तो प्रश्न यह उठता है कि ऐसे कर्मकाण्डों का प्रायद्वीपीय भारत के प्राक्–इतिहास से क्या संबंध है

अपहृत कुँआरी लड़कियों की हत्या का दोषी होने के बावजूद म्हातोबा एक अर्थ में विवाहित भगवान माने जाते हैं। बागड़ मंदिर में उनकी मूर्ति के साथ जोगूबाई नामक एक देवी की मूर्ति भी प्रतिष्ठित है। इसकी क्या वजह हो सकती है कि भगवान का एक रूप तो अविवाहित का हो और दूसरा विवाहित?

म्हातोबा के उद्‌गम का दूसरा स्थान भी बागड़ प्रथा वाले गाँव से लगभग इतनी ही दूरी पर है किंतु वह अलग दिशा में पड़ता है। हालाँकि इस स्थल पर ऐसे चिह्न तो नहीं मिलते परंतु परम्परा के अनुसार म्हातोबा पहले पहल इसी स्थान पर प्रकट हुए थे और उन्होंने सात कुँआरी बहनों का अपहरण करके अपने आगमन की घोषणा की थी। इसके बाद म्हातोबा जगह जगह भटकते हुए बागड़ प्रथा वाले गाँव के पास पहुँचे और कुछ देर के लिए नदी के निकट स्थित एक तालाब के पास ठहर गये। यहाँ उन्होंने पता नहीं किस कारण से सातों बहनों को डुबो दिया। वहाँ से गुज़र रहे कोली आदिवासी समुदाय के एक आदमी ने जब म्हातोबा की इस हरकत पर ऐतराज किया तो म्हातोबा ने उसे भी जल–समाधि दे दी। तालाब के पास उन सात बहनों और अभागे कोली की याद में एक पूजा स्थल आज भी मौजूद है। इस तालाब को अभिशप्त माना जाता है। इस तालाब के पानी का न नहाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है और न ही उसे पशुओं को पिलाया जाता है। पूजा–स्थल पर सात बहनों का लाल रंग के सीसे से अनगढ़ सा चित्रांकन किया गया है जिसका भारत के देहात में आमतौर पर पशु–

बलि से निकलने वाले ख़ून के स्थानापन्न के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। पूर्वोक्त मंदिर के क्षेत्र की तरह जहाँ म्हातोबा को बापूजी-बाबा के नाम से पुकारा जाता है, वहाँ भी पत्थर के सूक्ष्म औज़ारों के निक्षेप देखे जा सकते हैं।

अपहृत कुँआरी लड़कियों की हत्या का दोषी होने के बावजूद म्हातोबा एक अर्थ में विवाहित भगवान माने जाते हैं। बागड़ मंदिर में उनकी मूर्ति के साथ जोगूबाई नामक एक देवी की मूर्ति भी प्रतिष्ठित है। पहाड़ी वाले म्हातोबा के साथ, जिन्हें स्त्रियों के लिए अपकारी माना जाता है, ऐसी कोई संगिनी नहीं है। इसकी क्या वजह हो सकती है कि भगवान का एक रूप तो अविवाहित का हो और दूसरा विवाहित?

मुझे लगता है कि म्हातोबा और जोगूबाई देवों का एक ऐसा युग्म है जो मूलतः आबादी के अलग अलग समूहों तथा प्राक्-इतिहास के भिन्न कालखण्डों से संबंधित रहे होंगे। साक्ष्य के आधार पर मुझे यह व्याख्या सटीक जान पड़ती है कि आरम्भ में म्हातोबा एक आक्रामक क़िस्म का पुरुष देवता था। उत्तर भारत से दक्कन पर आक्रमण करने आया चरवाहा समुदाय- गावली इसकी विशेष उपासना करता था। यह समुदाय पशुपालक होने के बावजूद हल का इस्तेमाल नहीं करता था। समुदाय के लोग ईसा से दो हज़ार वर्ष पहले दक्कनी पठार के मध्य स्थित रायचूर तक आ पहुँचे थे। तिथि-निर्धारण की कार्बन-14 विधि से प्राप्त हालिया साक्ष्यों से संकेत मिलता है कि समुदाय के लोग ईसा पूर्व 1000 तक भी चरवाहा जीवन व्यतीत कर रहे थे। उत्तर भारत से आये पूर्ववर्ती आक्रांता चरवाहें भेड़ और बकरियाँ पालते थे। इसलिए उनके द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली खाल की क़िस्म पतली होती थी। इसके विपरीत गावली समुदाय पशुओं की भारी खाल का प्रयोग करता था। यही वजह है कि उनके प्रस्तर औज़ार भारी और अनगढ़ होते थे। बापूजी-बाबा मंदिर के पास से मिले पत्थर के सूक्ष्म औज़ारों में यह अंतर साफ़ दिखाई देता है।

इसके उलट जोगूबाई एक प्रकार की मातृ-देवी प्रतीत होती है और वह मुझे दक्कन के प्राचीन निवासियों अर्थात् आदिम खाद्य संग्रहकर्ताओं से संबंधित दिखाई देती है। अपने विराट पराक्रम से इन्हीं लोगों ने समूचे प्रायद्वीपीय भारत में सैंकड़ों की संख्या में विशाल पत्थरों के स्मारक खड़े किये थे। इन विशालकाय पत्थरों को एक जगह सँजोकर उन्होंने उन पर ख़ास तरह के चिह्न भी अंकित किये थे। यह एक दिलचस्प संयोग है कि इन प्राचीन प्रस्तर-स्मारकों से जुड़ा हर आधुनिक पंथ निरपवाद रूप से मातृ-देवी पर केंद्रित है।

भारत में देवी-पूजा के दृष्टांत आज भी लगभग हर जगह दिखाई देते हैं परंतु इसके आधार पर यह विश्वास करना ठीक नहीं होगा कि देश में प्रागैतिहासिक काल के खाद्य-संग्रहकर्ता किसी सार्वभौम मातृ-देवी की पूजा करते थे। आदिम और एक दूसरे से पृथक समाजों पर सार्वभौम प्रथाओं को थोप देना एक जोख़िम भरा काम है।

अगर इस अनुमान को सही माना जाए कि इस क्षेत्र में मातृ-देवी की प्रतिष्ठा पहले से ही थी जबकि पितृ-देव कोई ऐसा आक्रांता था जो चरवाहा समुदाय से आया था, तो प्रश्न यह उठता है कि फिर इस योजना में बागड़ प्रथा वाले गाँव को कैसे फ़िट किया जाए

पर मातृ-देवी और पितृ-देव के इस द्वंद्व का हर जगह ऐसा ही शांतिपूर्ण हल नहीं खोजा जा सका। समूचे भारत में ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी की हड़प्पा मुद्राओं पर उत्कीर्ण आदि-शिव के प्राचीनतम अंकन से लेकर आजकल भारतीय बाजारों में बिकने वाले भड़कीले चित्रों को रूपायित करने वाली धार्मिक कला में स्त्रैण देवी और महिषासुर का द्वंद्व एक स्थायी विषय रहा है जिसमें विजयश्री देवी को ही मिलती है। उदाहरण के लिए कालीघाट के चित्रों में शिव

की अर्धांगिनी पार्वती महिषाषुर का दमन करती है। दुर्गा–पार्वती का एक पर्याय महिषासुरमर्दिनी भी है।

जोगूबाई को ज़िले के एक अन्य मंदिर में म्हातोबा के बजाय उससे कहीं ज़्यादा प्राचीन पुरुष देवता— मसकोबा की परिणीता दिखाया गया है, जिसे महिषाषुर का प्रतिरूप माना जाता है। जिस तरह बागड़ मंदिर में म्हातोबा और जोगूबाई के विवाह को इस द्वंद्व के शमन का प्रतीक माना जा सकता है उसी तरह जोगूबाई के मसकोबा के साथ विवाह को इस टकराव की निरंतरता के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रसंग में एक बात तो निश्चित है: दो निपट अलग समाजों के इस प्रागैतिहासिक सम्मिलन के चिह्न आज भी अक्षुण्ण हैं। ग्रामीण क्षेत्र के कुछ भागों में श्रद्धालुगण अलग अलग पूजा–स्थलों पर महिषाषुर और उसका वध करने वाली देवी– दोनों की पूजा करते हैं।

लेकिन यहाँ दो चीज़ें पहले ही साफ़ कर लेनी चाहिए। पहली बात यह कि भारत में देवी–पूजा के दृष्टांत आज भी लगभग हर जगह दिखाई देते हैं परंतु इसके आधार पर यह विश्वास करना ठीक नहीं होगा कि देश में प्रागैतिहासिक काल के खाद्य–संग्रहकर्ता किसी सार्वभौम मातृ–देवी की पूजा करते थे। आदिम और एक दूसरे से पृथक् समाजों पर सार्वभौम प्रथाओं को थोपना एक जोख़िम भरा काम है। दूसरे, अगर कोई प्राचीन स्मारक वर्तमान में देवी–पूजा के केंद्र के रूप में प्रतिष्ठित है तो भी इस आधुनिक उपासना पद्धति या पंथ को प्रागैतिहासिक अवशेष मानना ग़लत होगा। प्रारम्भिक खाद्य–संग्रहकर्ताओं का कोई निश्चित आवास नहीं होता था तथा चरवाहे हमेशा चलायमान रहते थे। इसलिए किसी एक स्थान पर पूजा की निरंतरता की बात सोचना असम्भव है।

लेकिन इसके बावजूद कभी कभी संयोग धर्मपरायणता पर भारी पड़ जाता है। थेउर गाँव में प्रसव की देवी को जिस मेगालिथिक स्मारक पर पूजा जाता है वह एक प्रागैतिहासिक टीले पर स्थित है। इस देवी को सतवाई कहा जाता है क्योंकि उसकी पूजा–अर्चना शिशु के जन्म के छह दिन बाद की जाती है। थेउर के इस स्मारक के पत्थर इतने सख़्त हैं कि उस पर नये जमाने के राज–मिस्त्री की छैनी भी पड़ते ही बल खा जाती है। फिर भी इन पत्थरों पर आले के आकार के खाँचे देखे जा सकते हैं जिनमें कुछ तो एक इंच तक गहरे हैं। ये खाँचे श्रद्धालुओं ने प्रागैतिहासिक काल में प्रार्थना की किसी रस्म के तहत रगड़–रगड़ कर बनाये होंगे। चट्टानों पर उत्कीर्ण रूपाकारों में कौड़ी के चित्र सबसे प्रमुख हैं जिसे पारम्परागत रूप से स्त्रीत्व का प्रतीक माना जाता है। यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि थेउर स्मारक पर हज़ारों वर्ष पहले जिस देवता की पूजा की जाती थी वह आज की अधिष्ठात्री की तरह कोई देवी ही रही होगी। पारधी बहेलियों, धनगर गड़ेरियों और म्हातोबा के श्रद्धालु इस बात का पुख़्ता सुबूत हैं कि भारत में प्राक्–इतिहास आज भी एक निरंतरता है।

संदर्भ

एम.एन. श्रीनिवास और आंद्रे बेते (1965), 'द अनटचेबल्स ऑफ़ इण्डिया', *साइंटिफ़िक अमेरिकन*, दिसंबर.